तित्थयर

वर्ष ४ अंक १ : मई १९८०

जैन भवन

बनारसी साड़ी

इण्डियन सिल्क हाउस

कॉलेज स्ट्रीट मार्केट • कलकत्ता-१२

PRAKASH TRADING COMPANY

12 INDIA EXCHANGE PLACE
CALCUTTA-700001

Gram : PEARLMOON **Telephone : 22-4110 22-3323**

THE BIKANER WOOLLEN MILLS

Manufacturer and Exporter of Superior Quality
Woollen Yarn/Carpet Yarn and Superior
Quality Handknotted Carpets

Office and Sales Office :

BIKANER WOOLLEN MILLS

Post Box No. 24
Bikaner, Rajasthan
Phones : Off. 3204
Res. 3356

Main Office

4 Mir Bhor Ghat Street
Calcutta-700007
Phone : 33-5969

Branch Office

The Bikaner Woollen Mills
Srinath Katra : Bhadhoi
Phone : 378

तित्थयर

श्रमण संस्कृति मूलक मासिक पत्र
वर्ष ४ : अंक १
मई १६८०

□

संपादन
गणेश ललवानी
राजकुमारी बेगानी

□

आजीवन : एक सौ एक
वार्षिक शुल्क : दस रुपये
प्रस्तुत अंक : एक रुपया

□

प्रकाशक
जैन भवन
पी - २५ कलाकार स्ट्रीट
कलकत्ता-७००००७

□

मुद्रक
सुराना प्रिन्टिंग वर्क्स
२०५ रवीन्द्र सरणी
कलकत्ता-७००००७

सूची

भेद विज्ञान की विचक्षण साधिका ५
भोज और भीम प्रबन्ध ८
जैन धर्म में उपासना १६
भगवान पार्श्वनाथ २१
जैन पत्र-पत्रिकाएँ : कहाँ/क्या ३१

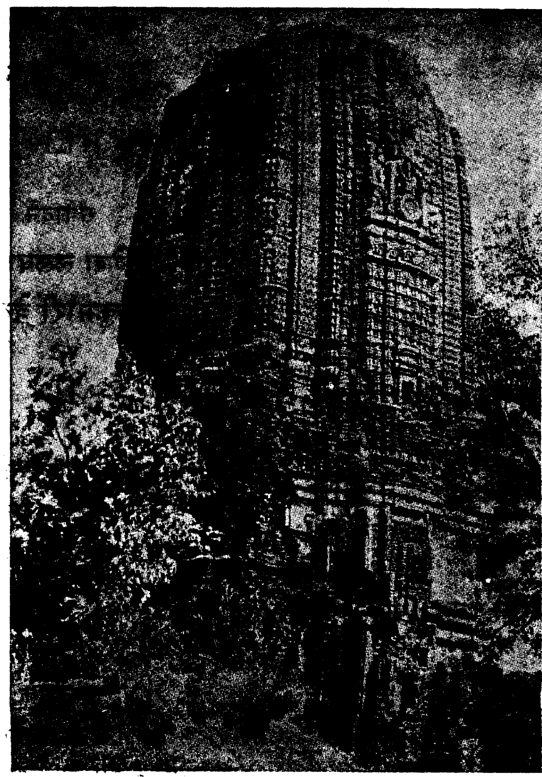

प्राचीन जैन मन्दिर
सिद्धेश्वर, बाँकुड़ा, १०वीं सदी

भेद विज्ञान की विचक्षण साधिका

—राजकुमारी बेगानी

कितना मनहूस था सं० २०३७ की वैशाख शुक्ला चतुर्थी का वह निष्ठुर दिन। जिस दिन अध्यात्म के पावन प्रांगण में समता के उदात्त साधना की आज्वल्यमान एक अनुपम विचक्षण ज्योति अचानक निर्वापित हो गयी। इधर तन-मन को झुलसा रखा था तप्त ग्रीष्म के आगमन ने। उधर आत्मा को भी झुलसा डाला इस दाहक संवाद ने।

कितना पावन था सं० १९६९ की आषाढ़ कृष्णा प्रतिपदा का वह अमर दिन। जिसदिन आषाढ़ की प्रथम वर्षा की भाँति महाराष्ट्र की अमरावती में माँ रूपादेवी के शुभ गर्भ से जन-मन को शीतलता प्रदान करने वाली आलोक बिखेरती वह मंगलमय दीपिका प्रज्ज्वलित हुई।

जन्म-जन्म की मधुर साधना में भीगी मधु-सी वाणी के कारण आपका नाम ही पड़ गया था दाखाबाई अर्थात द्राक्ष-सी मृदुल स्निग्ध कोमल। आपके पिताश्री थे पिपाड़ ग्राम निवासी मिश्रीमलजी मूथा, जिनका देहान्त तभी हो गया था जबकि पुष्प-सी सुकुमार दाखा ने शैशव की देहरी लाँघकर बचपन के आंगन में प्रवेश ही किया था। संसार की इस नश्वरता ने, क्षण-भंगुरता ने आपकी मातुश्री के संस्कारित हृदय को वैराग्य की भावना से ओत-प्रोत कर दिया। अतः सम्वत् १९८१ की ज्येष्ठ कृष्णा पंचमी के शुभ दिन अपनी होनहार सुपुत्री के साथ महान् विदुषी प्रातःस्मरणीया पूज्या साध्वी श्री जतन श्री जी महाराज से भागवती दीक्षा ग्रहण कर ली। ठीक ही तो कहा है ज्ञानियों ने—अभिशाप अभिशाप ही नहीं होता उसके पीछे छिपा वरदान भी होता है। दीक्षा के उपरान्त मातुश्री का नाम विज्ञान श्री एवं विचक्षण प्रतिभा की जीवन्त मूर्ति दाखा का नाम रखा गया विचक्षण श्री। चातुर्मास की समाप्ति पर जोधपुर में माघ शुक्ला पंचमी अर्थात बसंत पंचमी के दिन गणाधीश्वर श्री हरिसागरजी महाराज के पावन कर-कमलों द्वारा आपको वृहद् दीक्षा प्रदान की गयी।

सचमुच ही कितनी विलक्षण थी विचक्षण की अप्रतिम प्रतिभा। स्वयं प्रतिमा भी जिसे देख कर शरमा गयी होगी, लज्जा से पानी-पानी हो गयी होगी। मात्र सत्रह वर्ष की अल्पायु में ही आपने न्याय, व्याकरण, काव्य, कोष एवं समस्त आगमों का तलस्पर्शी अध्ययन कर डाला था। जो कि मुखरित होने लगा था आपके तेजस्वी व्याख्यानों में, ओजस्वी लेखनी में, निर्मल चारित्र के मणि सोपानों पर चढ़ते चरणों की उज्ज्वल गतिविधियों में। भारत के प्रान्त-प्रान्त के आम्र-कानन में वह भारत कोकिला कुहुक उठी। क्या श्वेताम्बर, क्या दिगम्बर, क्या वैष्णव जिसने आपको सुना, आपको पढ़ा, मुग्ध हो गया, सदैव-सदैव के लिए आपका भक्त हो गया।

मुझे स्मरण हो रहा है करीब तीन दसक पूर्व का वह चिर-परिचित दिन जबकि प्रथम बार बीकानेर के उपाश्रय में विशाल जन-समुदाय को सम्बोधित करता आपका अपूर्व क्रान्तिकारी प्रवचन सुना था, आपका वह अनुपम सुन्दर मुख-मण्डल देखा था। गोल चेहरा, भव्य ललाट, करुणाद्र विशाल नेत्र, दुग्ध-सा स्निग्ध श्वेतवर्ण। ऐसा प्रतीत हुआ जैसे शुभ्र-श्वेत परिधान में आवृत स्वयं सरस्वती ही प्रकट होकर अध्यात्म की वीणा पर जिनवाणी का सामगीत गा रही है, वीरवाणी का सन्देश सुना रही है। जिस क्रान्ति की आज हम नितान्त आवश्यकता महसूस कर रहे हैं उसका एहसास आपने तीस वर्ष पूर्व ही कर लिया था। आपकी दूरदर्शी दृष्टि ने, तीक्ष्ण अनुभूति ने उसका उद्घोष तभी कर डाला था। आपका कथन था—"बन्धुओं! क्रान्तियाँ तभी सफल होंगी जब आज का यह मानव चारित्र-निर्माण की ओर, आत्म-चिन्तन की ओर, आत्म-विकास की ओर अग्रसर होगा, सीमित स्वार्थ के संकुचित दायरे से निकल कर समाज, राष्ट्र और विश्व का हित-अहित सोचेगा, उसकी कल्याण कामना में रत होगा। यह संकुचित दृष्टि ही मोह है, ममत्व है, हिंसा है, विकृति है। प्रेम में धर्म है, द्वेष में अधर्म। और वह प्रेम चाहता है सर्वोदय, मात्र अपना और अपने सम्प्रदाय का उदय ही नहीं। प्रकृति ने तो हम सब को मानवाकार में एक ही स्नेह-स्रोत का पानी पीने वाला बनाया है। पर दुःख है हम आज अपनी सीमित दृष्टि के कारण एक दूसरे के नाम-भेद से हृदय-भेद करते हैं। अनेक मार्गों का होना उतना बुरा नहीं है जितना बुरा है हृदय में अनेकता कर लेना। अधिक नलों के होने से पानी भरने में सुविधा होती है। किन्तु नलों की जुदाई को पानी की जुदाई समझ लेने से आपस में दीवारें खड़ी होती हैं सम्प्रदाय की, वैमनस्य की, कटुता की। इस भ्रम को जब मैं देखती हूँ, सोचती हूँ तो तड़प उठती हूँ। काश! यदि हमने अहिंसा को, अनेकान्त को, जीवन में उतारा होता

तो हमारे सम्मुख सम्प्रदायों की ये पाषाणी दीवारें नहीं होतीं। मानव की मानवता से जुदाई नहीं होती।"

आपके इन्हीं क्रान्तिकारी विचारों से प्रभावित होकर विशाल श्री संघ ने समय-समय पर आपको व्याख्यान-भारती, भारत जैन कोकिला, विश्व-प्रेम प्रचारिका, समन्वय साधिका आदि पदवियों से विभूषित किया। किन्तु आपका तो निरन्तर यही कथन था—'मुझे पदवियाँ नहीं चाहिए। मुझे तो ऐसा पाठ चाहिए जो मुझे प्राणीमात्र की हित चिन्तिका बनाए, सबकी सेविका बनाए, ब्रह्म रूप बनाए, देह और आत्मा की भिन्नता का सद्ज्ञान कराए, अहं को नष्ट कर वीतरागी बनाए।'

नम्रता की, सेवा की, इन्हीं भावनाओं ने समता की सच्ची साधना ने, सद्ज्ञान की पावनता ने सचमुच ही उन्हें वैसा ही बनाया जैसा वे चाहती थीं। बौद्धिक स्तर पर भेदज्ञान की बड़ी-बड़ी बातें करना बहुत आसान है किन्तु बहुत-बहुत कठिन है उसे जीवन में उतारना, आचरण में लाना।

इधर कुछ वर्षों से असातावेदनीय के उदय में आ जाने से आप कैंसर जैसे असाध्य रोग से पीड़ित हो गयी थीं। जिसने भी यह सुना काँप गया, घबड़ा उठा, रो पड़ा। जिसको समय और सुविधा मिली वह आपके दर्शनों को दौड़ पड़ा। किन्तु साध्वी श्री थीं बिल्कुल शान्त, ज्ञान-ध्यान में निमग्न, निराकुल, निर्विकार। जो भी ज्ञाता पूछता उसको एक ही उत्तर—'मुझे कहाँ कुछ हुआ है। मैं तो यात्रायित हूँ अपने साधना पथ पर। जो कुछ हुआ है वह देह को हुआ है और मैं देह नहीं आत्मा हूँ। देह अपना कार्य कर रहा है आत्मा अपना। अच्छा ही तो है कि इस तरह कर्म निर्जरा का सुअवसर मेरे सम्मुख आया।'

उनके चित्त की शान्ति ने, उदीयमान वेदना को समभाव से सहन करने की सहिष्णुता ने बड़े-बड़े चिकित्सकों को चमत्कृत कर दिया था, हतप्रभ बना दिया था। जीवन के अन्तिम क्षण तक किस प्रकार वे रोग की इस भयंकर यन्त्रणा को भुलाकर स्व-स्वभाव में रमण करती रहीं, साधना में मगन रहती रहीं इसका साक्षी है निरन्तर उनकी सेवा में रत एक से एक महान विदुषी शिष्याओं का परिमण्डल, जयपुर का सौभाग्यशाली भू-मण्डल, लक्ष-लक्ष श्रावक-श्राविकाओं का, भक्तों का, उनके दर्शनों को आता-जाता मानव-दल।

बड़े-बड़े ग्रन्थों का अध्ययन करने वाला, असंख्य ग्रन्थों का सृजन करने वाला, बड़ी-बड़ी उपाधियों को धारण करने वाला भी मुक्त नहीं है। मुक्त है मात्र भेद विज्ञान की अनुभूति कर स्व-स्वभाव में रमण करने वाला।

भेद विज्ञान की ऐसी महान् विशेषज्ञा को, समन्वय की साधिका को, विश्व-प्रेम प्रचारिका को मेरे श्रद्धा भरे कोटिशः प्रणाम।

भोज और भीम प्रबन्ध

[गुजरात कहानी]

मूलराज की मृत्यु के पश्चात् चामुण्डराज ने गुजरात के सिंहासन पर आरोहण किया। तेरह वर्ष तक राज्य करने के पश्चात् उनकी मृत्यु हो जाने पर उनका पुत्र वल्लभराज सिंहासनारूढ़ हुआ। किन्तु उनका राज्यकाल अत्यन्त अल्प था। मात्र छः मास राज्य करने के पश्चात् उनका देहान्त हो गया। इसके बाद गुजरात के सिंहासन पर दुर्लभराज का अधिकार हुआ। दुर्लभराज ने ग्यारह वर्ष छः मास तक राज्य किया। उनकी मृत्यु के पश्चात् उन्हीं के भतीजे भीम ने गुजरात का सिंहासन प्राप्त किया।

भीम जैसे ही पराक्रमशाली राजा थे वैसे ही उदार और साहित्य-प्रेमी भी। किन्तु भीमराज से भी अधिक साहित्यप्रिय, उदार, काव्य-रसिक एवं दानवीर राजा थे उन्हीं के समसामयिक मालवपति राजा भोज। इन दोनों में प्रतिस्पर्द्धा भी थी। अतः एक का कथानक बाद देकर दूसरे का कथानक विवृत नहीं किया जा सकता। हम यहाँ राजा भोज की दानशीलता और काव्य-प्रीति के कुछ उदाहरण प्रस्तुत करेंगे।

राजा भोज एक दिन सोये-सोये सोचने लगे—लक्ष्मी जब चंचला है तब जो ऐश्वर्य के अधिकारी हैं उन्हें उसका सदुपयोग करना आवश्यक है। अतः दूसरे दिन उठते ही उन्होंने प्रार्थियों को बुलाकर दान करना आरम्भ कर दिया। राजा भोज के इस दान को देखकर मन्त्री तो सिर पर हाथ रखकर बैठ गया। इस प्रकार अर्थ व्यय करने पर लक्ष्मी कितने दिन रहेगी। एतदर्थ मन्त्री ने दानशाला की दीवाल के एक ऐसे स्थान पर जहाँ राजा की दृष्टि अवश्य पड़े लिख दिया—'आपातकाल के लिए धन की सुरक्षा करना कर्त्तव्य है।' दूसरे दिन राजा ने ज्योंही यह पढ़ा सभी से पूछा 'यह किसने लिखा है' पर जब किसी ने भी प्रत्युत्तर नहीं दिया तो उन्होंने उसी के नीचे लिख दिया—'भाग्यशाली को आपत्ति कहाँ?' मन्त्री ने जब यह पढ़ा तो फिर उसी के नीचे लिख दिया—'भाग्य यदि कुपित हो जाए तो?' राजा ने इसके प्रत्युत्तर में भी इसी के नीचे लिखा 'तब तो संचित धन भी नष्ट हो सकता है।' इस कथन पर निरुत्तर होकर मन्त्री ने राजा के सम्मुख आत्मप्रकाश किया। राजा मन्त्री

की हिताकांक्षा से अभिभूत होकर और पाँच सौ सभा पण्डित नियुक्त किए जो कि उनके मन मातंग को संयत करने का इसी प्रकार प्रयत्न करते रहें।

अब उनकी काव्य-प्रियता का परिचय लीजिए। राजा भोज स्वयं भी कवि थे। वास्तव में कवि के अतिरिक्त और कौन कवि का समादर कर सकता है। एक दिन रात को हठात् उनकी नींद टूट गयी। आकाश पर दृष्टि पड़ते ही देखा वहाँ नवीन चन्द्र उदित हुआ है। और कवियों का स्वभाव है चन्द्र द्वारा आक्रान्त होना। अतः तुरन्त उन्होंने एक कविता रच डाली, जिसका अर्थ है—

चाँद में मेघ के टुकड़ों-से जो काले-काले दाग हैं, जिन्हें कि लोग खरगोश कहते हैं। किन्तु मुझे ऐसा नहीं लगता।

भोज बार-बार इन्हीं पंक्तियों की आवृत्ति कर दूसरी पंक्ति का सृजन करना चाहते हैं किन्तु मन के अनुकूल पंक्ति बन ही नहीं पा रही थी। उसी समय राजकोष में सेंध लगाने एक चोर आया हुआ था, उसने सहसा पादपूर्ति के रूप में जिस पंक्ति की आवृत्ति की उसका आशय है—

राजन्, वह सब आपके शत्रुओं की विरहाक्रान्ता कामिनियों की कटाक्षरूपी उल्कापात से सृष्ट हजार-हजार व्रण चिह्न हैं।

भोज इस पादपूर्ति को सुनकर चकित हो गए और चोर भी चकित हो गया प्रहरियों को स्वयं को पकड़ते देखकर जो कि उसका कण्ठ-स्वर सुनकर आ गए थे, वह सोचने लगा—अब तो राजा भोज मुझे निश्चय ही शूली देगा। किन्तु नहीं, भोज ने उसकी काव्य-प्रतिभा पर मुग्ध होकर उसे एक करोड़ स्वर्ण-मुद्रा और आठ विशाल हाथी देकर सम्वर्द्धित किय ।

यहाँ एक और चोर की कहानी दिए बिना भी नहीं रहा जा रहा है। यद्यपि घटना का परिवेश एक-सा ही है। एक दिन और हठात् नींद भंग हो जाने पर भोज ने देखा—वातायन की जाली से चन्द्रालोक टुकड़े-टुकड़े होकर उनकी प्रिया के वक्ष देश पर लोट रहा है। यह देखकर वे बोल उठे—

प्रिये, गवाक्ष की जाली से प्रवेश करने के लिए चन्द्र-किरण खण्ड-खण्ड होकर तुम्हारे वक्ष देश पर विराज रही हैं।

साथ-ही-साथ उस समय चोरी के लिए आया चोर भी बोल उठा—

तुम्हारे वक्षलग्न होने के लिए चन्द्रदेव आकाश से कूदते ही टूटकर खण्ड-खण्ड हो गए।

कहना नहीं होगा भोज ने उसे भी अनुरूप पुरस्कार देकर सम्मानित किया।

एक बार की बात है। भोज अन्तःपुर में थे। तभी वहाँ की एक परिचारिका ने आकर निवेदन किया—'महाराज, दूर देशागत एक विद्वान परिवार आपके दर्शन के लिए आया है।' भोज ने तुरन्त कहा—'उन्हें शीघ्र यहाँ ले आओ।' दासी ने उन्हें भीतर लाकर इस प्रकार परिचय दिया—'महाराज, इसके पिता विद्वान, पिता का पुत्र भी विद्वान, माँ विद्वान, माँ की लड़की भी विद्वान, यहाँ तक कि इनके घर की कानी दासी जो है वह भी विद्वान है। एक वाक्य में कहा जाय तो यह पूरा परिवार ही एक विद्या पुँज है।'

यह सुनकर भोज ने हँसते हुए उनमें जो उम्र में बड़ा था उसे एक समस्या दी समाधान को। बोले—

'असार से सार निकालना उचित है।'

उसने उत्तर दिया—'धन से दान, वाक्य से सत्य, उसी प्रकार आयु से धर्म एवं कीर्ति और शरीर से परोपकार करके असार से सार ग्रहण करना उचित है।'

भोज ने इसी प्रकार उस परिवार के लोगों को एक-एक समस्या दी और प्रत्युत्तर से सन्तुष्ट होकर सभी को ससत्कार विदा किया किन्तु, लड़की की ओर नहीं देखा। अतः सन्ध्या व्यतीत होने पर जब राजा चन्द्रालोकित छत पर छत्र धारण किए विचरण कर रहे थे द्वारपाल ने आकर उस लड़की के विषय में कहा। भोज ने उसे बुलाया। आने पर राजा ने कहा—'कुछ सुनाओ।' तब उस लड़की ने जो श्लोक सुनाया उसका अर्थ है—

हे राजन्, हे मुंज कुलदीपक, हे पृथ्वीपालक, हे राजाओं के शिरोभूषण! इस चन्द्रालोकित रात में प्रासाद की छत पर आप जो सिर पर छत्र धारण किए विचरण कर रहे हैं वह उचित ही है क्योंकि, इससे आपकी मुख-कान्ति को देखकर चन्द्र को लज्जित नहीं होना पड़ेगा और भगवती अरुन्धती को भी पर पुरुष दर्शन रूप अपवाद नहीं सहना पड़ेगा।

राजा भोज इस लड़की के वाक्-चातुर्य, काव्य-प्रतिभा एवं रूप पर इतने मुग्ध हुए कि उसे अपनी सहधर्मिणी बना लिया।

ऐसे राज्य में साधारण प्रजा भी यदि काव्य-चर्चा करे, प्रहेलिकामय वाक्य बोले तो उसमें आश्चर्य क्या है?

एक बार एक दिग्विजयी पण्डित ने भोज-राजसभा की बात सुनकर सोचा—अरे, वह तो घर में गरजता हुआ मेघ है, मुझसे लड़कर देखे। बस इसी घमण्ड के साथ भोज की राजधानी की ओर रवाना हुआ। नगर-प्रवेश करते ही एक धोबी से मुलाकात हुई। नाक सिकोड़ कर उसने धोबी को कहा—'अरे ओ मैले कपड़े धोने वाले, नगर का क्या हालचाल है ?'

'नगर का हालचाल क्या होगा' कहते हुए धोबी बोला—'वहाँ घोड़े तोरण सहित बड़ी-बड़ी अट्टालिकाएँ वहन करते हैं, गायें केशर और पद्म-पराग खाती हैं। दही का रंग है वहाँ पीला। तिल में तेल नहीं होता और हरिण दरवाजों के ऊपर चरते रहते हैं।'[1]

प्रत्युत्तर सुनकर बेचारा पण्डित तो हतप्रभ हो गया। अब कुछ पूछने का उसमें साहस नहीं रहा। सम्मुख खड़ी एक लड़की को देखकर बोला—'तू कौन है ?'

वह बोली—

'जहाँ मृतक जी उठते हैं, जिसकी आयु नहीं वह हँसता है, खेलता है, घूमता है, आपस में जहाँ कलह होता है मैं उसी कुल की लड़की हूँ।'[2]

निरीह ग्रामीण बाला के मुख से ऐसी बात ? अतः वह दिग्गज पण्डित नगर-प्रवेश का तो साहस ही नहीं कर पाया।

---

१. घोड़े तोरण सहित बड़ी-बड़ी अट्टालिकाएँ वहन करते हैं अर्थात् नगर में प्रासाद जैसे विशाल सुसज्जित रथ चलते हैं। गायों का दही गाढ़ा व पीला होता है इससे लगता है वे केशर और पदम्-पराग चरती हैं। यह साधारण नागरिकों की समृद्धि का सूचक है। तिल में तेल नहीं है से तात्पर्य नारी देह के उन तिलों से है जिनसे उनका सौन्दर्य उभरता है अर्थात् यहाँ की नारियाँ अत्यन्त सौन्दर्य-शालिनी होती हैं। दरवाजे पर हरिण चरते हैं अर्थात् हर गृह के तोरणद्वार चित्रित होते हैं। यह नगर और शिल्पकला की सम्बृद्धि का सूचक है।

२. मृतक जी उठते हैं का अर्थ है मैले-गन्दे कपड़े नवीन जीवन प्राप्त करते हैं। जिसकी आयु नहीं वह हँसता-खेलता है अर्थात् जीर्ण-शीर्ण वस्त्र भी नए-से हो जाते हैं। आपस में जहाँ कलह होता है यानि कपड़ों को एकत्रित कर पीटा रगड़ा जाता है। मैं उस कुल की लड़की हूँ से मतलब धोबी कुल की लड़की हूँ।

एक बार विद्वतपल्ली बसाने के लिए राजा भोज ने एक धीवर पल्ली का उत्खात करना चाहा। राजपुरुष जब कुदाल छेनी लिए धीवर पल्ली की ओर चले तो एक धीवर रमणी हाथ में एक खण्ड हरिण का सूखा मांस लिए राजा भोज के सम्मुख उपस्थित हुई। उसे देखते ही भोज बोले—'कौन हो तुम ?'

'मैं धीवर पत्नी हूँ।'

'तुम्हारे हाथ में क्या है ?'

'मांस।'

'मांस सूखा हुआ कैसे ?'

'महाराज, आपके शत्रुओं की कामिनियों के अश्रुजल रूपी जो नदी प्रवाह है उसी के किनारे सिद्धनारियाँ गान करती हैं, उस गान को सुनकर हरिण घास चरना भूल गए हैं। अतः उनका मांस सूख गया है।'

इस कविता को सुनकर धीवर पत्नी की विद्वता पर राजा भोज मुग्ध हो गए। अतः उस धीवर पत्नी का स्थान विद्वतपल्ली में हो गया।

एक बार भोज हाथी पर चढ़कर नगर भ्रमण को निकले। देखा—एक भिखारी जमीन से चावल चुन-चुन कर खा रहा है।

वे बोल उठे—

'स्वयं का पेट भरने की भी जिसमें सामर्थ्य नहीं है उसका जन्म लेना बेकार है।'

वह भिक्षुक भी राजा की ओर मुखकर तुरन्त बोला—

'जो सामर्थ्यवान होकर भी परोपकार नहीं करता उसका भी जन्म लेना बेकार है।'

यह सुनकर भोज ने उसे एक कोटि स्वर्ण मुद्राएँ और १०० हाथी प्रदान किए।

ऐसा राजा जब भीम के साथ युद्ध करना चाहेगा तब वह युद्ध कविता द्वारा ही प्रारम्भ हो यही स्वाभाविक है। भोज ने इसीलिए अपने सन्धि विग्राहिक को एक श्लोक देकर भीम के पास भेजा जिसका अर्थ था—

जिसने खेल ही खेल में हाथी का कुम्भदेश विदीर्ण कर डाला, जिसका प्रताप चारों ओर व्याप्त है, उस सिंह का मृग के साथ न विग्रह ही शोभाप्रद है न सन्धि ही।

भीम उस श्लोक को पाकर चिन्तित हो उठे। चिन्ता युद्ध के लिए नहीं, श्लोक का यथोचित प्रत्युत्तर श्लोक में देने के लिए थी। उन्होंने काव्य-जगत् के सभी महारथियों को बुला भेजा। उन्होंने अनेक श्लोकों की रचना कर भीम को सुनाया। किन्तु कोई भी भीम को नहीं भाया। जब भीम निराशा की अन्तिम सीमा पर थे तभी एक मन्त्री ने आकर खबर दी कि एक ऐसे महाकवि का सन्धान मिला है जिनकी कविता अनुपम होती है।

भीम ने पूछा—'कौन है वह?'

मन्त्री ने स्पष्टीकरण करते हुए कहा—'महाराज, एक जिनालय में एक नर्तकी को स्तम्भ के समीप खड़ी देखकर वहाँ उपस्थित एक आचार्य-शिष्य ने एक श्लोक रचा—

हे स्तम्भ, तुम नवयौवना एवं मृगनयना वस्त्रालंकारों से सुसज्जित सुन्दरी रमणी की बाहुओं द्वारा वेष्टित होने पर भी न कम्पित होते हो न स्वेदयुक्त इसी से लगता है तुम सचमुच पत्थर हो।

आचार्य शिष्य की इस कवित्व प्रतिभा पर मुग्ध होकर भीम ने उसे बुलवाया और उसने भी भीम के मनोनुकूल श्लोक की रचना कर तुरन्त उन्हें सुनाया—

विधाता ने अन्धक पुत्र को निहत करने के लिए ही भीम की सृष्टि की थी। जिस भीम ने एक सौ अन्धक पुत्रों को निहत कर डाला उसके लिए एक अन्धक पुत्र को निहत करना कौन-सी बड़ी बात है?

यहाँ अन्धक पुत्र पर श्लेष है। धृतराष्ट्र की भाँति भोज के पिता भी अन्धे थे।

भोज इस श्लोक को पढ़कर प्रसन्न हुए या क्रुद्ध यह तो पता नहीं, फिर भी उन्होंने गुजरात आक्रमण के संकल्प का परित्याग नहीं किया। तदुपरान्त जिस समय गुजरात दुर्भिक्ष से पीड़ित था उसी वर्ष एक बड़ी सेना लेकर गुजरात आक्रमण को प्रस्तुत हुए। यह खबर सुनकर भीम बड़े चिन्तित हुए क्योंकि उस समय युद्ध होने से पराजय निश्चित थी। अतः अपने सन्धि विग्राहिक दामर को भोज के पास इसलिए भेजा कि वह उन्हें समझा-बुझाकर गुजरात अभियान से निवृत करे। यहाँ तक कि अर्थ-दण्ड भी देने को वे प्रस्तुत थे। दामर अपने स्वामी का आदेश लेकर भोज की राजसभा में उपस्थित हुआ।

दामर की बुद्धि तो बहुत तीक्ष्ण थी किन्तु, देखने में वह एकदम कुरूप था। उसे देखते ही भोज ने उपहास के स्वर में कहा—'दामर, तुम्हारे जैसे तुम्हारे स्वामी के कितने दूत हैं?'

दामर बोला—'जी अनेक। पर सब एक से नहीं हैं। कोई देखने में अच्छा है, कोई कुरूप है, कोई बीच की रास का। जिस देश के जैसे राजा होते हैं मेरे स्वामी उस देश में उसी प्रकार का दूत भेजते हैं।'

निश्चय ही यह सुनकर भोज का खून खौल उठा था किन्तु वे चुप ही रहे। भोज युद्ध प्रारम्भ की तैयारी करते रहे और दामर अपने स्वामी के कथनानुसार अर्थ दण्ड का उल्लेख न कर वहीं दिन व्यतीत करता रहा।

युद्ध यात्रा प्रारम्भ करने के प्रथम दिन, रात्रि के समय एक नाटक अभिनीत किया गया। अभिनय का विषय था भोज के शत्रु राजाओं की दुर्दशा। चोल के राजा ने समुद्र में प्रवेश किया, आन्ध्र के राजा ने पर्वत के गह्वर में। कर्णाटक के राजा ने सिर पर पगड़ी बाँधने का त्याग किया। गुजरात का राजा झरने के नीचे छिप गया। चेदि राज के हाथों से अस्त्र ही खिसक कर गिर पड़े और कान्यकुब्ज का राजा कुबड़ा हो गया। कंकण अधिपति एक कोने में, लाट-नरेश के दरवाजे के पास, कलिंगपति आँगन में चित होकर सो गए और तैलपपति कारागार के मध्य इस प्रकार सो गया जैसे वही उसका खास महल हो। एक राजपुरुष ने जब उसे वहाँ से उठाना चाहा तो वह बोल उठा—'मैं वंशानुक्रम से यहाँ निवास करता आ रहा हूँ। क्या तुम्हारे कहने से यह स्थान छोड़ दूँगा?' भोज ने दामर से नाटक के रस परिपाक की प्रशंसा की। दामर बोला—'महाराज, रस परिपाक तो अवश्य ही हुआ है फिर भी नाट्यकार की विषय वस्तु सम्बन्धी अज्ञानता को धिक्कार है। वे तैलपपति हैं यह समझने के लिए शूल पर मुञ्ज देव का मुण्ड स्थापित करना उचित था।' प्रसंगतः यह कहना आवश्यक है कि तैलपपति ने भोज के चाचा मुञ्ज को पराजित ही नहीं किया शूली पर भी चढ़ा दिया था। अतः प्रकट रूप में इस प्रकार अपमानित होकर भोज ने अपनी सेना को गुजरात की ओर परिचालित न कर तैलप की ओर परिचालित किया। इस प्रकार गुजरात नरेश की इच्छा भी पूर्ण हुई और अर्थ दण्ड भी न देना पड़ा।

इस दामर की उपस्थित बुद्धि का कुछ और परिचय देकर हम इस निबन्ध को शेष करेंगे। दामर के मुख से भीम के रूप गुण को सुनकर भोज उन्हें देखने को व्यग्र हो उठे। वे दामर को बोले 'या तो तुम उन्हें यहाँ ले आओ, या फिर मुझे वहाँ ले चलो।' उधर इसी के मुख से भोज राजसभा की ख्याति सुनकर भीम दामर से कहने लगे 'या तो तुम उन्हें यहाँ ले आओ या मुझे वहाँ ले चलो।' इस प्रकार दामर दोनों ओर से अनुबद्ध होकर एक दिन राजा भीम को ब्राह्मण के वेष में भोज की राजसभा में ले गया। दामर को

देखते ही भोज कह उठे, क्यों, इस बार भी तुम अपने स्वामी को नहीं लाए ?' दामर ने प्रत्युत्तर दिया—'महाराज वे स्वाधीन हैं, किसी की आज्ञा के अधीन नहीं हैं कि किसी के कहने से ही वे चले आएँ।' भोज ने तब भीम की आकृति, वय, रूप और रंग के सम्बन्ध में पूछा। दामर उसका वर्णन करते हुए बोला—'महाराज, वे एकदम मेरे इस अनुज के जैसे हैं फिर भी दोनों में, जो पार्थक्य है वह पार्थक्य काँच और मणि का है।' भोज ने ब्राह्मण की ओर देखा और उसके सर्वांग राजलक्षणयुक्त देखकर समझ गये यही राजा भीम है। किन्तु दामर भी कम चालाक नहीं था। उसने भी भीम को उसी क्षण उपहार लाने के लिए राजसभा से बाहर भेज दिया एवं स्वयं उपहार के गुण-अवगुण बखानने लगा। इसी प्रकार जब बहुत समय व्यतीत हो गया और वह ब्राह्मण नहीं लौटा तो भोज ने उत्कंठित होकर पूछा—'तुम्हारा अनुज कहाँ गया ?' दामर बोला—'मेरा अनुज कहाँ ? वही तो महाराज भीम थे।' यह सुनते ही भोज ने भीम को पकड़ लाने के लिये अपने सैनिकों को आदेश दिया। दामर बोला, 'महाराज, अब वह सम्भव नहीं है। बारह योजन की दूरी तक तेजस्वी घोड़ों का प्रबन्ध किया हुआ है। अब तो वे आपकी राज्य सीमा अतिक्रम कर गए हैं।'

एक बार भीम दामर को समझा रहे थे कि भोज की राज सभा में कैसे वार्तालाप करना होगा। दामर ने कुछ सुना भी नहीं कि उठ खड़ा हुआ और अपने कपड़े झाड़ने लगा। भीम ने इसका कारण पूछा तो दामर बोला—'महाराज, आप मुझे जो शिक्षा दे रहे हैं वह सब यहीं रख कर जाता हूँ। कारण वहाँ तो समयोचित उत्तर मुझे ही देना होगा। आपकी शिक्षा वहाँ कोई काम नहीं आएगी।' यह सुनते ही भीम ने उसके चातुर्य की परीक्षा के लिए उसे भोज को देने के लिए एक पत्र दिया जिसमें लिखा था कि पत्र पाते ही दामर की हत्या कर दें। दामर ने यथारीति वह पत्र ले जाकर भोज के हाथों में दिया। उस पत्र को पढ़कर भोज वह पत्र दामर को दिखावें एवं जानना चाहें भीम ने ऐसा आदेश क्यों दिया है। दामर तुरन्त बोल उठा—'महाराज, मेरी जन्म कुण्डली में लिखा है जिस देश में मेरा रक्तपात होगा वहाँ बारह वर्ष का दुर्भिक्ष पड़ेगा। अतः राजा ने स्वदेश की रक्षा के लिए यह पत्र देकर मुझे यहाँ भेजा है। अब आप जैसा उचित समझें करें।' इस पर भोज बोले, 'तब तुम्हारी हत्या कर मैं क्यों अपने राज्य में अनिष्ट को आमन्त्रित करूँ।' भोज ने दामर को खूब धन-रत्न देकर विदा किया।

दामर जब पुनः भीम के पास लौटा तब भीम ने भी उसकी बुद्धिमता पर मुग्ध होकर उसे खूब धन-रत्न देकर सम्मानित किया।

मेरुतुंगाचार्य की 'प्रबन्ध चिन्तामणि' के आधार से

जैन धर्म में उपासना

—श्री राजनारायणजी पाण्डेय

तत्वतः जैन उपासना के मूल में चार मुख्य बातें हैं—जिन भक्ति, अहिंसा, सदाचार तथा कर्म-मल का क्षय। समग्र रूप से उपासना सम्बन्धी अन्य अपेक्षित बातों का उक्त तत्वों में ही समावेश हो जाता है।

'जिन-भक्ति' जैन उपासना का मेरुदण्ड है। इसके द्वारा शुद्धात्मवृत्ति का उदय होता है। वीतरागी सिद्ध महात्माओं के गुणों पर श्रद्धा पूर्वक अनुराग रखते हुए आत्म-विकास करना ही जिन भक्ति है। इन सिद्धात्माओं को तीर्थंकर, आप्त, स्वयंभू, अर्हत आदि अनेक नामों से अभिहित किया जाता है। साधना द्वारा कर्ममल को नष्ट कर डालने के कारण ही वे 'जिन' कहलाते हैं।

जैनमत के पूज्य पुरुषों—यथा चक्रवर्ती बलदेवादि में 'जिन' का सर्वोच्च स्थान है। यद्यपि वेदों-उपनिषदों में वर्णित ईश्वर के समान उन्हें जगत-स्रष्टा के रूप में नहीं माना जाता, तथापि कठोर तपश्चरण द्वारा कषायों—क्रोध, मान, माया तथा लोभ को नष्ट करके अनन्त शक्ति, अनन्त ज्ञान तथा अनन्त शान्ति समन्वित आत्मतत्व प्राप्त करने के कारण जैन भक्तों ने, 'जिन' को उन समस्त विशेषणों तथा उपाधियों से विभूषित किया है, जो वेद-पुराणादि में सामान्यतः ईश्वर के हेतु प्रयुक्त हुए हैं।

'जिन' उच्च राजकुल—इक्ष्वाकु, हरिवंश आदि में जन्म लेते हैं। तीर्थंकर होने के तृतीय पूर्व भव में वे तीर्थंकर नाम कर्म प्राप्त करते हैं, द्वितीय भव में देव आयु पूर्ण करते हैं, तत्पश्चात् मानव रूप में अवतरित होते हैं। वस्तुतः इसी भव में वे तीर्थंकर पद लाभ करते हैं। जीवन के आरम्भ में वे राजलक्ष्मी का भोग करते हैं, परन्तु संसार की नश्वरता का बोध होते ही—क्षणमात्र में अपने अखिल ऐश्वर्य का तृणवत् परित्याग करके मुनि दीक्षा ले लेते हैं। दुर्धर्ष साधना के पश्चात् उन्हें केवल-ज्ञान की उपलब्धि होती है। इस अवसर पर इन्द्रादि देव उनकी स्तुति करते हैं तथा उनका पवित्र उपदेश श्रवण करने के लिये समवसरण का निर्माण करते हैं। इसी समय उनमें अष्ट प्रतिहार्य—विभूति का उदय होता है। ये प्रतिहार्य हैं—भामण्डल, सिंहासन, अशोक वृक्ष, पुष्प वृष्टि, मनोहर दिव्य ध्वनि, श्वेत छत्र, चमर तथा दुन्दुभि-निनाद। अन्त में जन-कल्याण करते हुए वे निर्वाण प्राप्त करते हैं। इस प्रकार जिन के च्यवन,

जन्म, मुनि-दीक्षा, कैवल्य तथा निर्वाण के अवसरों पर जो समारोह होते हैं उन्हें 'पंच कल्याणक' कहते हैं। संस्कृत व अपभ्रंश के जैन पुराणों में ऋषभ से लेकर वर्धमान महावीर तक २४ तीर्थंकरों के पंच कल्याणकों के अत्यन्त भावपूर्ण वर्णन प्राप्त होते हैं।

जिन भक्ति का प्रधान उद्देश्य आत्मोन्नति है। वीतरागी जिनदेव को उनके प्रति की गयी स्तुति, पूजा, वन्दना आदि से कोई प्रयोजन नहीं; क्योंकि लेशमात्र भी उनमें राग नहीं होता। न तो पूजादि से उनमें किसी नवीन हर्ष का संचार होता है और न निन्दा से वे अप्रसन्न ही होते हैं। हाँ, उनके पुण्य गुणों का स्मरण स्मरण-कर्ता के पापमल को धोकर चित्त को निर्मल अवश्य कर देता है—

न पूजयार्थस्त्वयिवीतरागे
न निन्दया नाथ विवान्त वैरे।
तथापि ते पुण्यगुणस्मृतिर्नः
पुनाति चित्तं दुरिताजनेभ्यः ॥

(स्वयम्भू स्तोत्र, ५७)

जैनाचार्य समन्तभद्र का कथन है कि स्तुति के समय तथा स्थान पर स्तुत्य चाहे उपस्थित हो अथवा न हो एवं फल प्राप्ति भी चाहे सीधी उनके द्वारा होती हो या न होती हो, परन्तु आत्म-साधना में तत्पर साधु-स्तोता की भक्ति कुशल परिणाम का कारण अवश्य होती है—

स्तुतिः स्तोतुः साधोः कुशलपरिणामाय स तदा।
भवेन्मा वा स्तुत्यः फलमपि ततस्तस्य च सतः ॥

(स्वयम्भू स्तोत्र, १६)

स्तुति द्वारा गुणों का स्मरण किया जाता है। जिनके गुण स्मरण से पाप दूर भागते हैं, परिणामतः आत्मा में पवित्रता का संचार होता है। इसी भक्ति साधना का पक्षावलम्बन करता हुआ भक्त एक दिन स्वयं उस पावन पद को प्राप्त कर लेता है। यद्यपि इस कार्य में 'जिन' की कोई इच्छा नहीं होती, परन्तु निमित्त कारण होने से ही उन्हें 'प्रदाता' कहा जाता है।

जैन उपासना में 'अहिंसा' का बहुत महत्व है। वस्तुतः वह जैन धर्म का प्राण है। पूर्ण अहिंसक पुरुष को परब्रह्म परमात्मा की संज्ञा दी गयी है—

अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमम्।

कषाय तथा प्रमाद के निमित्त किसी के प्राणों का घात करना तो हिंसा है ही, परन्तु मन में किसी के घात का विचार मात्र आना भी जैन मत में हिंसा

ही माना जाता है। इसीलिए हिंसा के दो भेद—भाव तथा द्रव्य किये गये हैं। अपभ्रंश के महाकवि पुष्पदन्त के 'जसहर चरिउ'—'यशोधर चरित्र' में महाराज यशोधर द्वारा जीवित कुक्कुट के स्थान पर आटे के कुक्कुट की बलि देने के कारण भाव-हिंसा उत्पन्न हुई, अतः मरणोपरान्त उन्हें नरक यातना प्राप्त हुई—

कारिम कुक्कुडेन णिहरण वि तुहुं भमिओ सि दुब्भवो।
(जस०, ४।१८।१)

जैन धर्म जगत की प्रत्येक वस्तु में जीव की स्थिति मानता है। अहिंसा को परम धर्म मानते हुए उसमें मानव मात्र को अत्यन्त सावधान होकर चलने के विधान प्रस्तुत किये गए हैं। प्रत्येक श्रावक अथवा गृहस्थ के लिये अणुव्रत अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह का जो विधान है उसमें अहिंसा सर्वप्रथम है। श्रावक या गृहस्थ के लिये यत्नपूर्वक मद्य, मांस, मधु आदि का त्याग आवश्यक बतलाया गया है। इसके अतिरिक्त मूली, अदरख, नवनीत, नीम तथा केतकी के पुष्प भी उनके लिए त्याज्य हैं। मुनि दीक्षा प्राप्त साधकों के लिये तो अहिंसा का सर्वदेशीय पालन करना अनिवार्य है। उनके महाव्रत अहिंसा, अस्तेय, सत्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह में भी अहिंसा सर्वोपरि है। जैन मुनि केश नहीं कटवाते, वे स्वयं उनका लुंचन करते हैं। दंशन करते हुए मशक अथवा शरीर में लिपटे हुए भुजंग को भी वे नहीं हटाते। निशा भोजन तो मुनि, श्रावक दोनों के लिए वर्जित है। प्राणि-वध वस्तुतः आत्म-वध के समान ही माना गया है—

पाणिवहु भडारिए अप्पवहु।

जैन धर्मोपासना में अहिंसा के पालन का जितना कठोर विधान है, उतना अन्य मतों में कठिनाई से ही प्राप्त होगा।

अहिंसा के साथ ही जैन उपासना में 'सदाचार' को अत्यन्त महत्व दिया जाता है। जैन धर्म जहाँ एक ओर मानव-जीवन की नश्वरता, संसार की क्षण-भंगुरता तथा जीव द्वारा पापों का फल भोगने के लिए नरकादि की विभीषिका का उल्लेख करता है, वहाँ वह प्राणीमात्र को इनके कष्टों से त्राण पाने के लिए धर्म सम्मत सदाचार के अनुगमन करने का उपदेश भी देता है।

मोक्ष प्राप्त करने के लिए जीव को तीन मुख्य साधनों का आश्रय लेना आवश्यक है। वे हैं—'सम्यक्-दर्शन', 'सम्यक्-ज्ञान' तथा 'सम्यक्-चारित्र'। जिस गुण के विकास से सत्य की प्रतीति होती है वह सम्यक्-दर्शन है। नय तथा प्रमाण द्वारा जीवादि तत्वों का बोध सम्यक्-ज्ञान है एवं सम्यक्-ज्ञान पूर्वक

काषायिक भाव अथवा राग-द्वेष के क्षय से जो स्वरूप प्राप्त होता है, वही सम्यक्-चारित्र है। इनमें से सम्यक्-दर्शन को उत्कृष्ट मानकर, उसे जैन-धर्म का कर्णधार कहा गया है। इससे सम्पन्न व्यक्ति चाण्डाल-पुत्र होने पर भी देवतुल्य है। गुरु सेवा तथा शास्त्राभ्यास द्वारा इसमें अधिक दृढ़ता आती है।

सम्यक्-दर्शन तथा सम्यक्-ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् ही सम्यक्-चारित्र की साधना सम्भव है। इसके 'सकल' तथा 'विकल' दो भेद हैं। गृह त्यागी मुनियों का चारित्र सकल है, परिग्रही गृहस्थों का विकल। सकल चारित्रानुगामी मुनि पंच महाव्रत का पालन करते हैं। उनके लिए शून्य आवास तथा श्मशान ही आगार है। चान्द्रायण व्रत साधना करते हुए उन्हें विचरण करना चाहिए। क्षुधा, तृष्णा, शोक, अप्रिय, बन्धन, शीत, ऊष्ण आदि की ओर ध्यान न देते हुए उन्हें सत्पथ पर सतत आरूढ़ रहना चाहिए और इस प्रकार अपने संचित कर्मों को क्षीण करना चाहिए। विकल अथवा सागार धर्म अपेक्षाकृत सरल है। इसके व्रती को अणुव्रतादि के अतिरिक्त मधु, मदिरा, पचुम्बर फलों अर्थात् वट, पीपल, उदुम्बर, पकन्द, काकोदुम्बर आदि का त्याग भी आवश्यक है। उसे कुशास्त्र-श्रवण वर्जन, वर्षाकाल में गमन निषेध तथा जीव घातक आजीविका का त्याग करना चाहिए। उसे अष्टमी तथा चतुर्दशी के दिन पत्नी से पृथक होकर उपवास पूर्वक एकान्त वास करना चाहिए। कुगुरु, कुदेव तथा कुकर्म से विमुख होकर उसे अन्तकाल में सल्लेखना द्वारा शरीर त्याग करना चाहिए। श्रावक व्रत का पालन करते हुए कोई भी व्यक्ति सोलहवाँ अर्थात् अच्युत स्वर्ग प्राप्त कर सकता है।

मानव के आत्म-विकास में जिस शक्ति के कारण बाधा उपस्थित होती है, उसे 'कर्म' कहते हैं। प्रत्येक आत्मा अनन्त ज्ञान, सुख, वीर्यादि शक्तियों का आधार है, परन्तु अनादि काल से उसके साथ कर्ममल लिप्त रहने के कारण उसकी स्वाभाविक शक्तियाँ विकसित नहीं हो पातीं। दूसरे शब्दों में पुद्गल का परमाणुपुञ्ज आकर्षित होकर आत्मा को आच्छादित कर लेता है। यही कर्म है। कर्म का आत्मा से सम्पर्क होने से जो अवस्था उत्पन्न होती है, वह 'बन्ध' है। राग-द्वेष से युक्त मनुष्य की आत्मा पुद्गल-पुंज को वेग के साथ आकर्षित कर लेती है, जिस प्रकार चुम्बक लोह को। पञ्चेन्द्रिय सुखों के कारण असंख्य कर्मों का आश्रय होता है।

कर्मों के आठ भेद होते हैं—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अन्तराय, वेदनीय, आयु, नाम तथा गोत्र। आत्मा का बन्ध करने वाले इन कर्मों के

आश्रव को अवरुद्ध करने के लिए साधक को 'संवर' की आवश्यकता होती है। इसके द्वारा आश्रव के समस्त द्वारों का निरोध होकर नवीन कर्मों का प्रवेश रुक जाता है तथा पुरातन कर्म क्रमशः क्षीण होते जाते हैं। यही 'निर्जरा' है। कर्मों का पूर्ण क्षय ही 'मोक्ष' है। मोहनीय कर्मों का नाश होने से केवल-ज्ञान की प्राप्ति होती है। जैन दर्शन के अनुसार आत्म-विकास की चौदह अवस्थाएँ होती हैं, जिनके द्वारा आत्मा शनैः-शनैः कर्म बन्धन से मुक्त होती हुई अन्त में पूर्ण निर्मल हो जाती है। इन्हें 'गुण स्थान' कहते हैं। इनकी प्रत्येक अवस्था में पाप-वृत्ति का क्षय तथा पुण्य-वृति का उत्तरोत्तर विकास होता जाता है।

जैन उपासना के अन्तर्गत निर्दिष्ट उक्त साधनों का सम्यक् पालन करके सामान्य से सामान्य मानव भी चाहे वह किसी वर्ण का हो, दिव्य परमात्म-पद का अधिकारी बन सकता है।

कल्याण, वर्ष ४२, संख्या १

भगवान पार्श्वनाथ

—हरिसत्य भट्टाचार्य

मन्त्री विश्वभूति को एक दिन शिर के भ्रमर सदृश काले केश समूह में एक सफेद बाल निकलता हुआ दिखलाई दिया। फिर क्या था, विचारधारा तरंगित हो उठी, सोचने लगा, धीमे-धीमे इसी प्रकार सभी बाल सफेद हो जायेंगे और एक दिन यौवन-सरिता भी सूख जाएगी। उगते हुए एक सफेद बाल को देखकर मन्त्री ने संसार की अस्थिरता, असारता का अनुमान किया और पोतनपुर के इस मन्त्री ने एक स्त्री, दो पुत्र एवं महान् ऐश्वर्य का त्याग करके मुक्ति का रास्ता लिया।

मन्त्री के दो पुत्र थे। बड़े पुत्र का नाम कमठ और छोटे का मरुभूति था। कमठ बड़ा होने पर भी महामूर्ख था, अतएव मन्त्रीत्व का भार कमठ को न देकर मरुभूति को दिया गया। मरुभूति के विनय, शिष्टाचार और चारित्र को देखकर महाराज अरविन्द उसे बहुत मानने लगे। वह महाराजा का विश्वास पात्र हो गया और उनकी अनुपस्थिति में राजतन्त्र की बागडोर उसी के हाथ में रहने लगी।

एक दिन अचानक वज्रवीर्य नामक एक प्रतिस्पर्द्धी महाराज ने युद्ध दुन्दुभि बजा दी। महाराजा अरविन्द ने राज्यतन्त्र मरुभूति को सौंप दिया और स्वयं सेना के साथ मैदान की ओर चल दिए। मरुभूति की विद्यमानता में राजा को राज्य की कुछ भी चिन्ता न थी।

राजा अरविन्द युद्ध में गए और राज्य में कमठ के अत्याचार पराकाष्ठा को पहुँचने लगे। उसने सोचा, राज्यतन्त्र मेरे सहोदर के हाथ में है फिर मुझे पूछने वाला कौन है?

कमठ विवाहित था। उसकी स्त्री का नाम वरुणा था। तथापि वह अपने छोटे भाई की स्त्री के रूप-लावण्य को देखकर कामान्ध हो गया।

एक बार कमठ ने देखा—वसुन्धरा उद्यान में निःशंक होकर घूम रही है। न जाने वह कब तक टकटकी लगाए उसकी ओर देखता रहा। पर देखने मात्र से उसे तृप्ति न हुई। वसुन्धरा नजरों से ओझल हुई तब कमठ ने एक ठण्डी सांस छोड़ी।

कमठ के मित्र कलहंस ने उसे बहुतेरा समझाया—"भाई, पर स्त्री तो माता के समान होती है, अपने छोटे भाई की स्त्री तो पुत्री ही मानी जाती है।" पर कमठ की कामतृषा शान्त नहीं हुई।

'प्राण जाए तो चिन्ता नहीं, एक बार बसुन्धरा को स्वपत्नी न बना सका तो यह जीवन ही व्यर्थ है।' कमठ का शरीर काँप रहा था और उसकी आँखों से अस्वाभाविक तेज टपकता था।

कलहंस ने जाकर बसुन्धरा को खबर सुनाई—"यहीं पास वाले लतामंडप में तुम्हारा जेठ मूर्च्छित पड़ा है, तुम्हें उसकी सुश्रुषा के लिए जाना चाहिए।" कलहंस के कपट वाक्यों को सुनते ही बसुन्धरा घबड़ाकर कमठ के पास दौड़ गयी। हरिणी व्याघ्र के पंजे में फँस जाए ऐसी हालत वहाँ बसुन्धरा की हुई। कमठ के पाप का घड़ा भी परिपूर्ण हो गया।

महाराजा अरविन्द शत्रु पर विजय प्राप्त करके जब पोतनपुर वापस आए तो बहुत से मनुष्यों से इस अत्याचार की कहानी सुनी। उनका रोम-रोम क्रोध से जलने लगा। उन्होंने मन्त्री मरुभूति से पूछा "तुम स्वयं भले कुछ न कहो, परन्तु मैं कमठ को कड़े से कड़ा दण्ड देना चाहता हूँ। अपने राज्य में मैं यह अन्याय सहन नहीं कर सकता। तुम्हीं बतलाओ, इसकी क्या सजा दी जाय?"

मरुभूति भी आखिर मनुष्य था। कमठ के अत्याचार से उसके हृदय में ज्वाला धधक रही थी। तथापि वह उदारता और क्षमा के शीतल जल से इस ज्वाला को शान्त करने के लिए अहर्निश अपने चित्त के साथ युद्ध खेलता था। उसने कहा—"इस समय तो उसे एक बार क्षमा कर दीजिए।"

मरुभूति के स्वभाव की मधुरता को देखकर महाराजा विस्मित हो गए। वे कहने लगे, "बस, अब तो मैं स्वयं ही सब कुछ देख लूँगा, तुम जबान नहीं चला सकते। अब तुम खुशी से अपने महल में जा सकते हो।"

महाराजा ने कमठ का मुख काला करवाया और उसे गधे पर बैठा कर सारे शहर में घुमाने के पश्चात् फिर कभी स्वदेश न लौटने की आज्ञा फरमा दी।

अपमानित कमठ फिर तो तपस्वी बन गया। धर्महीन, वैराग्य-विहीन कमठ भूताचल नामक पर्वत पर तपस्वियों के आश्रम में आकर कठोर तपश्चर्या करने लगा।

अपने ज्येष्ठ सहोदर की तपश्चर्या का सब हाल सुनकर मरुभूति सोचने लगा—"सचमुच मेरे बड़े भैया का हृदय अब पश्चाताप्-वारि से शुद्ध हो गया।

है।" राजा ने बहुत समझाया कि चाहे जितना धोने पर भी कोयला सफेद नहीं होता—दुराचारी मनुष्य शायद थोड़े समय के लिए सदाचारी हो जाय, तो फिर वह और भी भयंकर हो जाता है। इसलिए अब तुम्हें उसके साथ किसी प्रकार का सम्बन्ध न रखना यही उचित है। पर मरुभूति के हृदय में बन्धुभाव का रुधिर उमड़ रहा था। भ्रातृ-वात्सल्य ने उसके दिल के ऊपर पूर्णतः अधिकार जमा रखा था।

वह न रह सका और जाकर कमठ के चरणों पर गिर पड़ा। बोला, "भाई, क्षमा करो, महाराज ने मेरी बात सुने बिना आपको निर्वासित कर दिया। आपकी यह कठोर तपश्चर्या देखकर मेरा हृदय फटा जाता है। अब आप घर चलिए।"

उस समय कमठ दोनों हाथों में दो भारी पत्थर लिए खड़ा हुआ तपश्चर्या करता था। छोटे भाई के विनयी मधुर शब्दों ने उसके अन्तःकरण में बैठे हुए क्रोधरूपी सर्प को छेड़ दिया। उसने आगा सोचा न पीछा; हाथ का पत्थर भाई के सिर पर दे मारा। मरुभूति वहीं का वहीं मर गया।

कमठ के इस निर्दय व्यवहार को देखकर आसपास के तपस्वियों में खलबली मच गई। उन्होंने कमठ को आश्रम से निकाल बाहर किया।

कमठ एक भील बस्ती में जाकर रहने और चोरी लूटमार आदि उपद्रव करने लगा।

एक अवधिज्ञानी मुनिराज ने महाराजा अरविन्द को मरुभूति के देहावसान की खबर दी। इस समाचार से महाराजा अत्यन्त दुःखी हुए और मन ही मन कहने लगे—"मैंने स्वयं उसे जाने से रोका था, पर वह न माना। आखिर दुष्ट ने अपने सगे भाई को भी निर्दयता पूर्वक मार ही डाला।"

संसार में अमर कौन है ? कमठ और उसकी पत्नी वरुणा भी परलोक सिधार चुके हैं।

आकाश के एक कोने में धीरे-धीरे घटा घिर रही है। वह घटा नहीं है, मानों कोई कुशल चित्रकार निश्चिन्त होकर आकाश पर नये-नये चित्र बना रहा है। घड़ी में एक चित्र बनाता है, तो घड़ी के बाद उसे मिटा देता है; घड़ी भर में एक नया ही आकार नजर आता है।

महाराजा अरविन्द इस मेघ लीला को तल्लीन होकर देख रहे हैं। मेघ चित्रकार ने एक जिन-मन्दिर बनाना शुरू किया। महाराजा को वह चित्र

इतना पसन्द आया कि वे रंग और ब्रुश लेकर उसकी नकल उतारने बैठ गये। वे बादलों के आकार का ही एक दूसरा जिन-मन्दिर निर्माण करना चाहते थे।

देखते ही देखते बादल फट गए और मन्दिर का सारा स्वप्न विलिन-विलुप्त हो गया।

महाराजा के अन्तःकरण ने पुकारा : "क्या सचमुच संसार इतना अस्थिर है ? यह राज्य, यह संपदा, यह जीवन, यह सब कुछ क्या इस बादल के मन्दिर के समान ही क्षणिक है ? इन सबके छिन्न-भिन्न होने में क्या देर लगती है ? मैं क्यों इस अस्थिर संसार के पीछे अपना जीवन बिता रहा हूँ ?"

महाराजा अरविन्द ने अपने पुत्र को सिंहासनारूढ़ करके त्याग पथ का रास्ता लिया। कई वर्ष इसी प्रकार बीत गए।

सम्राट अरविन्द आज अरण्यवासी हैं, निःस्पृह मुनि के समस्त आचार पालते हैं।

एकबार सम्मेदशिखर की ओर विहार करते हुए मार्ग में सल्लकी नामक एक बड़ा वन पड़ा। अरविन्द मुनि के साथ और भी बहुत मुनि थे। सबने सल्लकी अरण्य में डेरा डाल दिया।

मुनिसंघ बैठा हुआ था, इतने में ही एक पागल हाथी मदोन्मत्त होकर वृक्षों को समूल उखाड़ कर फेंकता हुआ, अपनी ओर आता उन्होंने देखा। महात्मा अरविन्द ध्यानस्थ थे। वे आँख खोलें, इसके पूर्व ही हाथी ने उन्हें सूँड से पकड़ लिया। महात्मा तनिक भी व्याकुल न हुए। वे तो पर्वत के समान अपने आसन पर बैठे रहे। हाथी का गर्व जाता रहा। उसने मुनि अरविन्द की छाती पर श्री वत्स का चिह्न देखा उसे देखते ही हाथी को अपने पूर्व भव की स्मृति जाग्रत हो गई। एक छोटे से चिह्न में उसने समस्त भव की लम्बी अविच्छिन्न कथा लिखी देखी। सूँड उठाकर उसने महाराज को प्रणाम किया।

"क्यों इस प्रकार की व्यर्थ हिंसा करता है ?" मुनि अरविन्द ने कोमल वाणी से, हाथी को सम्बोधित करके कहा। "हिंसा के समान अन्य और कोई भी पाप नहीं है। अकाल मृत्यु के परिणाम स्वरूप तो तुझे हाथी का—जानवर का भव प्राप्त हुआ है। अब भी क्या पाप से नहीं डरता ? धर्म पंथ में विचर। व्रतादि का पालन कर। किसी दिन सद्‌गति मिल ही जाएगी।"

अकाल में अपघात मृत्यु का शिकार होने वाले मन्त्री मरुभूति का जीव इस अरण्य में हाथी के रूप में अवतरित हुआ था। कमठ की पत्नी वरुणा

इसकी हथिनी थी। हाथी का नाम वज्रघोष था। वज्रघोष सल्लकी वन में घूमता था। हथिनी रूप में वरुणा इसकी प्रियतमा बनी थी। विधि के विधान कितने विलक्षण होते हैं।

वज्रघोष को अपना पूर्व भव याद आ गया। असाधारण दुःख और पश्चाताप से उसका चित्त हिल उठा। उसने मौन भाव से अरविन्द मुनि के पाद-पद्म में मस्तक झुका दिया, प्रतिज्ञा की कि, "अब हिंसा न करूँगा, यावज्जीवन १२ व्रतों का पालन करूँगा।"

मुनिवर अरविन्द विहार करके गए तब वज्रघोष हाथी भी बहुत दूर तक उन्हें पहुँचाने गया। अब तो वह अहिंसा व्रत का पालन करता है; केवल क्षुधानिवृत्ति के लिए थोड़े सूखे तृण खा लेता है; अपकारी को भी क्षमा करता है; शत्रु और मित्र को भी समान समझता है; पर्व दिवसों में उपवास करता है; ब्रह्मचर्य से रहता है। तप से धीमे-धीमे उसका शरीर सूखकर काँटा हो गया है, पर इसकी उसे बिल्कुल चिन्ता नहीं है। अहर्निश परमेष्ठी मन्त्र का जाप करता है।

एक दिन पिपासा व्याकुल वज्रघोष पानी पीने के लिये वेगवती नदी की ओर जाता था। वहाँ किनारे पर ही कर्कट नामी एक सर्प रहता था। उसने वज्रघोष को काट लिया। यह सर्प कमठ का जीव था। पाप कर्म के कारण उसे सर्प का भव प्राप्त हुआ था। वज्रघोष को देखते ही साँप को अपना पूर्व भव याद आ गया। उसने इस प्रकार उस वैर का बदला लिया।

मृत्यु के समय वज्रघोष ने आर्त रौद्र ध्यान न किया। इस व्रत के प्रताप से वह आठवें सहस्रार स्वर्ग में देव हुआ। वहाँ उसने १७ सागरोपम अति सुख विलास में बिताए। देव के भव में भी वह इस व्रत की महिमा न भूला। वह मानता था कि यह सब पुण्य की ही महिमा है। देव भव में भी वह रोज चैत्यालय में पूजा भक्ति करता और महामेरु नंदीश्वर आदि द्वीपों में जाकर भगवान की प्रतिमा को वंदन करता था।

देवों की भी मृत्यु तो होती ही है। सत्रह सागरोपम के अन्त में उसकी देव लीला समाप्त हुई।

पूर्व महाविदेह में सुकच्छ नामक विजय में वैताढ्य पर्वत पर तिलकपुरी नामक नगरी है। वहाँ के राजा का नाम विद्युतगति और रानी का नाम तिलकावती है। उन्हें एक सुन्दर पुत्र-रत्न प्राप्त हुआ। महापुरुषों ने कहा

"अष्टम देवलोक का देव ही यहाँ राजपुत्र के रूप में अवतरित हुआ है।" इसका नाम किरणवेग रक्खा गया।

बाल्यावस्था से ही वह धर्म परायण रहता था। पिता के पश्चात् किरणवेग सिंहासनारूढ़ हुआ। भरपूर समृद्धिशाली होने पर भी महाराजा किरणवेग ने धर्माचरण को नहीं भुलाया।

एक दिन विजयभद्र नामक आचार्य उस नगर में पधारे। राजा किरणवेग ने उनसे मोक्षमार्ग का उपदेश श्रवण किया। उसके विवेक चक्षु खुल गए और संसार विषयक रुचि भी उसी दिन जाती रही। गुरु के पास दीक्षा लेकर उसने उग्र तपश्चर्या करना प्रारम्भ किया, रागद्वेष क्षीण होने लगे।

राज राजेश्वर किरणवेग एक दिन मुनिरूप में एक पर्वत की एकान्त गुफा में ध्यान में बैठे थे। इतने ही में एक विकराल फणिधर आया और उसने बड़े ओर से फुँफकार मारते हुए मुनिराज के पैर में काट लिया। धीमे-धीमे उस छिद्र से सर्प का कातिल विष समस्त शरीर में व्याप्त हो गया।

विष-ज्वाला से अंग-अंग में, रोम-रोम में असह्य जलन होने लगी। वेदना का यह हाल था कि मानो शरीर भट्ठी में जल रहा है।

इतने पर भी मुनिराज ने धैर्य और शान्ति को नहीं जाने दिया और अविचलित भाव से कालदूत के अधीन हो गए।

किरणवेग मुनिराज के प्राण लेने वाला यह फणिधर पहले कर्कट नामक सर्प था। इस सर्प के काटने से ही वज्रघोष ने प्राण त्याग किया था। इसके पश्चात् कर्कट मर कर पंचम नरक में गया, जहाँ उसे सत्तरह सागरोपम आयु का भोग करते समय छेदन-भेदन आदि अनेक यन्त्रणाएँ सहन करनी पड़ी। नारकी का आयु पूर्ण होने पर भी उसने हिमगिरि की गुफा में फणिधर के रूप में जन्म लिया। किरणवेग को देखते ही उसका पुराना वैर जाग उठा। इसी वैर के कारण उसने इस बार भी किरणवेग जैसे राजर्षि की जहरीले डंक से हत्या की।

मुनिवर किरणवेग बारहवें स्वर्ग में, जंबूद्रुमावर्त विमान में देवरूपेण उत्पन्न हुए। २२ सागरोपम आयु वाले इस देव को भी आयु पूरी होने पर देवलोक का त्याग करना पड़ा। वहाँ से वे फिर मनुष्य लोक में आए।

जम्बूद्वीपान्तर्गत पश्चिम महाविदेह में शुभंकरा नामक एक महानगरी है। इसका नरपति वज्रवीर्य है। और उसकी पटरानी का नाम लक्ष्मीवती। महारानी ने एक दिन एक के बाद दूसरा, इस प्रकार कई शुभ स्वप्न देखे और

उनका वृतान्त महाराजा से कहा। वज्रवीर्य ज्ञानी पुरुष थे। इन स्वप्नों से उन्हें निश्चय हो गया कि स्वर्ग का कोई देव हमारे यहाँ पुत्र रूप में आने वाला है।

यथा समय महारानी ने ६४ सुलक्षणयुक्त एक सुन्दर पुत्र को जन्म दिया। समस्त नगर इस जन्मोत्सव के आमोद-प्रमोद में निमग्न हो गया। पुत्र का नाम वज्रनाभ रखा गया। उसने बाल्यावस्था में ही समस्त विद्याएँ सीख लीं। वज्रनाभ के यौवनावस्था को प्राप्त होते-होते कितने ही विदेशी राजाओं ने अपनी-अपनी कन्या का विवाह इस राजकुमार से करने के लिए दौड़-धूप कर डाली। धीमे-धीमे उसने राज्य की बागडोर अपने हाथ में ले ली।

एक दिन वज्रनाभ अपनी आयुधशाला देखने गया। वहाँ उसे एक दिव्य चक्र मिला। इसे पाकर वह दिग्विजय के लिए बाहर निकल पड़ा। विजयार्ध पर्वत के दोनों ओर के ६ खण्डों पर उसने अपनी हकूमत कायम की और वह चक्रवर्ती बना। १४ अपूर्व रत्नों का भी वह स्वामी बना। अब उसके वैभव विलास में किसी प्रकार की कमी न रही।

इतने विशाल राज्यैश्वर्य का उपयोग करते हुए भी वज्रनाभ एक दिन भी धर्म को न भूला। जिन पूजा, उपवास, दान, व्रत, पच्चक्खाण, सामायिक आदि पुण्य कार्यों में उसने तनिक भी प्रमाद न किया। एक दिन क्षेमंकर नामक एक मुनिप्रवर (तीर्थंकर) वहाँ पधारे। राजा के विनयादि गुणों से संतुष्ट होकर उन्होंने उसे धर्मोपदेश दिया। क्षणमात्र में वज्रनाभ की विषय-लालसा जाती रही। चक्रवर्ती के समस्त वैभवों को तृणवत् समझकर वह दीक्षा लेकर चल निकला। कठोर तपश्चर्या के बल से वह अध्यात्म-ज्ञान का अधिकारी हुआ।

किरणवेग को काटने वाला वह फणिधर अपने पापों के कारण छठे नरक में उत्पन्न हुआ। वहाँ उसे २२ सागरोपम आयु बिताने में अनेकों असह्य यन्त्रणाएँ सहन करनी पड़ीं। इसके पश्चात् ज्वलन पर्वत पर कुरंगक नामक भील के रूप में जन्म धारण किया। वह वन में पशुओं की हत्या करता हुआ दिन बिताता था। उसके दुष्कर्म और दुराचार की कोई हद न थी।

सर्वस्व त्यागी वज्रनाभ एक बार इसी गंभीर अरण्य से होकर गुजर रहे थे। कुरंगक ने उन्हें देखा और उसका पूर्व वैर ताजा हो गया। अति तीव्र और कठोर मनोभाव वाले इस कुरंगक ने मुनिवर की जान लेने के लिए शर संधान किया। तीर लगते ही उसकी वेदना से मुनिराज ने तत्काल प्राण त्याग कर दिया। अन्तिम क्षण तक वे धर्मध्यान परायण ही रहे। वे मुनिराज मध्यम ग्रैवेयक में ललितांग नामक देव हुए।

रौद्र भाव के परिणाम स्वरूप कुरंगक मर कर सातवें नरक में गया, जहाँ उसने २७ सागरोपम काल तक अवर्णनीय दुःख भोगे।

जंबूद्वीप के भरत खण्ड के सुरपुर नगर में वज्रबाहु राजा राज्य करता है। उसे जिनशासन में खूब श्रद्धा है। ललितांग देव ने इस राजा के यहाँ जन्म धारण किया।

जन्म से ही यह बालक इतना रूपवान था कि इसे एक बार देखने पर किसी भी दर्शक की तृप्ति नहीं होती थी। इसकी आकृति ही आनन्द के अणुओं से बनी हुई थी। प्रजा को इसके दर्शन मात्र से ही अत्यन्त आनन्द होता था। बालक का नाम सुवर्णबाहु रखा गया। रूप में एवं गुण और शौर्य में भी वह अद्वितीय था। यौवनावस्था प्राप्त होने पर अनेक राजकुमारियों ने उसके कण्ठ में अपनी-अपनी वरमाला पहनाईं। सुवर्णबाहु कुमार ने सिंहासनारूढ़ होने पर आसपास के सब छोटे-बड़े राज्यों पर विजय प्राप्त कर ली। वह एकमात्र मण्डलेश्वर बना।

एक दिन मन्त्री ने राजा के सामने सिर झुकाकर कहा—

"आज बसन्त ऋतु का पवित्र दिन है। जिन शासन का भी एक पवित्र पर्व है। बहुत से भद्रिक, भवी जीव आज जिनेश्वर भगवान की पूजा-अर्चा-स्तुति आदि करेंगे। आपको भी इस पुण्यक्रिया में भाग लेना चाहिए।"

मन्त्री की सलाह मण्डलेश्वर को पसन्द आ गई। उसने नगर में महोत्सव मनाने की आज्ञा दी। स्वयं भी स्नानादि से निवृत्त होकर जिन मन्दिर में गया और जिनेन्द्र भगवान की पूजा की।

पूजा करते समय उसे एक शंका उत्पन्न हुई।[1] शंका, आशंका, जिज्ञासा[2] ये किसी एक ही युग की वस्तुएँ नहीं हैं। प्राचीन श्रद्धा प्रधान माने जाने वाले युग में भी इस प्रकार की शंकाएँ उठती थीं। सुवर्णबाहु के अन्तःकरण में प्रश्न उत्पन्न हुआ: "प्रतिमा तो अचेतन है; इसकी पूजा से क्या लाभ?"

विपुलमति नामक एक मुनिपुंगव ने सुवर्णबाहु के हृदय की शंका को समझ लिया। उन्होंने राजा की शंका का जिस प्रकार समाधान किया वह इस युग के लिए भी अनेक प्रकार से उपयोगी है। उन्होंने कहा—"चित्त की शुद्धि अथवा अशुद्धि का आधार प्रतिमा है। आप स्वच्छ सफेद स्फटिक की प्रतिमा

---

१. यह हकीकत महाचार्यजी ने कहाँ से ली है, यह बात उन्होंने नहीं लिखी; श्वेताम्बर साहित्य के पार्श्वनाथ चरित्र में यह नहीं है।

२. यहाँ जिज्ञासा के स्थान में विचिकित्सा (फल का सन्देह होना चाहिए)।

को रक्त पुष्पों से अलंकृत करें तो वह प्रतिमा भी लाल रंग की दिखलाई देगी। काले फूल चढ़ाएँगे तो वह काली प्रतीत होगी। प्रतिमा के पास प्राणी के मनोभाव भी इसी प्रकार परिवर्तित होते हैं। जिन मन्दिर में जाकर भगवान की वीतराग आकृति को देखने से चित्त में वैराग्य भावना जागृत हुए बिना नहीं रह सकती। और किसी विलासवती वेश्या के मन्दिर में जा पहुँचे तो वेश्या के दर्शन से चित्त में वासना तरंगित हुए बिना नहीं रहेगी। वीतराग भगवान की मूर्ति के दर्शन करने से, इनकी नवांगी पूजा करने से, इनके निर्मल गुणों का हमें क्षण-क्षण में ख्याल आता है। हमारे मनोभाव विशुद्ध होते हैं। ज्यों-ज्यों परिणाम विशुद्ध बनता है त्यों-त्यों मुक्ति के मार्ग में आगे बढ़ा जाता है।

"बाह्य प्रतिमा के दर्शन से प्रेक्षक के मन में अनेक प्रकार के भाव जागृत होते हैं। एक साधारण उदाहरण लीजिए। मान लो, शहर में एक असामान्य रूप-यौवन सम्पन्ना वेश्या रहती है। उसकी अचानक मृत्यु हो जाए। उसका शव श्मशान में पड़ा हो। इसमें जीव नहीं है, जड़वत् शरीर पड़ा है। उसके पास से कोई कामी पुरुष गुजरता है। उस कामी पुरुष के मन में उस जड़ देह को देख कर किस प्रकार के विचार उत्पन्न होंगे? उसे यह ख्याल आएगा कि यह वेश्या जब जीवित थी तब कितनी रूपवती होगी? इसने अपने जीवनकाल में कितने युवकों को कटाक्षवाण से घायल किया होगा?

"इसी श्मशान में एक कुत्ता आ पहुंचता है। वह सोचता है कि ये लोग किसलिए इस जड़ शरीर को जला देते हैं? इसे ऐसे ही छोड़ दें तो फिर हमारे कैसे गुलछर्रे उड़े।

"इसी श्मशान के पास से होकर एक साधु पुरुष निकलते हैं। वे इस कलेवर को देखकर सोचते हैं: मनुष्य देह मिलने पर भी इस जीवन में इसका कैसा दुरुपयोग किया? देह से इसने तपश्चर्या की होती तो इसका कितना कल्याण होता?

"सारांश, यह कि, एक ही अचेतन देह को देखने वाले तीन व्यक्ति भिन्न-भिन्न प्रकार के विचार करते हैं, एक मृत देह तीन मनुष्यों के चित्त में पृथक-पृथक रंग उभरती है। वाह्य वस्तु के दर्शन का कुछ प्रभाव ही नहीं पड़ता ऐसा न मानना चाहिए। 'जिन' प्रतिमा का ध्यान करने से, उसकी पूजा करने से, इनके गुणों का स्मरण करने से हमारे चित्त में विशुद्धि के अंश की वृद्धि होती है। यही विशुद्धि हमें धीमे-धीमे स्वर्गादि का सुख और मुक्ति भी दिलाती है।"

सुवर्णबाहु की शंका जाती रही। विपुलमति मुनिवर ने इस राजा को और भी बहुत-सी बातें बतलायीं और यह भी बतलाया कि तीन लोक में कितने-कितने चैत्य हैं। उन्होंने कहा—"सूर्य विमान में भी एक स्वाभाविक, सुन्दर, अपूर्व जिन मन्दिर है।"

उस दिन से सुवर्णबाहु ने निश्चय किया कि वह नित्य प्रातः और सायं महल की खुली छत पर खड़ा होकर सूर्य विमान में स्थित जिनबिम्ब को अर्घ्य अर्पण किया करेगा। इस निश्चय के अनुसार वह रोज प्रातः सायं खुली छत पर खड़ा होकर, सूर्य के सम्मुख देखकर अर्घ्य देता और जिनबिम्ब को उद्देश्य करके दोनों हाथ जोड़कर प्रणाम करता।

अपने नगर में भी उसने एक सूर्य विमान तैयार कराया और जिन प्रतिमा की स्थापना की।

प्रजा धीमे-धीमे महाराजा की पूजा-पद्धति का अनुकरण करने लगी, सुबह शाम सूर्य को अर्घ्य देने लगी। इसी प्रकार कितने ही वर्ष बीत गए। प्रजा यह बात भूल गई कि सूर्य एक विमान है और उसमें एक जिन प्रतिमा है। केवल सूर्य की पूजा शेष रह गयी आज भी यह अवशेष सूर्योपासना के नाम से प्रसिद्ध है।

धीमे-धीमे सुवर्णबाहु ने वार्द्धक्य का आगमन देखा और संसार प्रवंचों से निवृत्त होकर दीक्षा ग्रहण की।

दीक्षा लेने के पश्चात् सुवर्णबाहु ने कठोर तपश्चर्या की। उसके प्रभाव से उन्हें अपूर्व सिद्धियाँ प्राप्त हुईं। इस राजर्षि के आसपास वन में कहीं भी दुःख और क्लेश का नाममात्र भी न रहा। स्वभाव से ही हिंसक ऐसे पशु-प्राणी भी आपस के वैर भूल गए। सिंह और शशक सम्बन्धियों के समान एक साथ रहने लगे। लता-वृक्षों पर भी राजर्षि के पुण्य का प्रभाव पड़ा। वन-वृक्ष फूलों-फलों से लद गए। सरोवरों में निर्मल जल और कमल लहराने लगे।

ऐसे शान्त एकान्त सुखमय अरण्य में राजर्षि सुवर्णबाहु आत्म-ध्यान करने लगे।

एक दिन राजर्षि ध्यान में बैठे थे। इतने में एक सिंह उधर आ पहुँचा। राजर्षि को ध्यान में बैठा देखकर एक छलांग मारी और उनका शरीर चीर डाला। प्राणान्त कष्ट सहने पर भी मुनिराज तनिक भी चंचल न हुए। मर कर उन्होंने दशम प्राणत स्वर्ग में इन्द्र पद प्राप्त किया।

[क्रमशः

जैन पत्र पत्रिकाएँ : चर्चा/कथा

अमर भारती ॥ अप्रैल १९८०

उपाध्याय श्री अमर मुनि के प्रवचनों के अतिरिक्त इस अंक में है 'विविध कलाएँ और उनका उपयोग' (श्री विजय मुनि), 'श्रावकाचार में अहिंसा' (पं० कैलाश चन्द्र शास्त्री), 'विदेश में अर्हद संघ और उसका कार्य' (श्री सुशील मुनि)।

आगमपथ ॥ नवम्बर १९७८

शीतल जन्म शताब्दी विशेषांक

संक्षिप्त जीवनी के अतिरिक्त इस अंक में है 'जिन शासन के भक्त और सेवक महामना शीतल प्रसाद जी' (राजेन्द्र कुमार जैन), 'एक निष्ठावान व्यक्तित्व' (दरबारी लाल कोठिया), 'एक क्रान्तिकारी व्यक्तित्व' (श्रीमती रूपवती 'किरण'), 'सन्तप्रवर ब्रह्मचारी शीतल प्रसाद जी' (डा० ज्योति प्रसाद जैन), 'वे बहुमुखी पुरुष थे' (बाबू माईदयाल जैन), 'ब्रह्मचारी शीतल प्रसाद जी का व्यक्तित्व और कृतित्व' (परमानन्द शास्त्री), 'ब्रह्मचारी शीतल प्रसाद और उनका गृहस्थ धर्म' (लक्ष्मीचन्द 'सरोज'), 'साहित्य मन्दिर के पुजारी ब्र० शीतल प्रसाद' (वंशीधर शास्त्री), 'दो युग प्रवर्तक' (पवन कुमार जैन), 'महान् विभूति ब्र० शीतल प्रसाद जी' (पं० सुन्दरलाल जैन)।

जिनवाणी ॥ अप्रैल १९८०

आचार्य श्री हस्तीमल जी के प्रवचनों के अतिरिक्त इस अंक में है 'जैन कर्म सिद्धान्त : बन्धन और मुक्ति की प्रक्रिया [१]' (डा० सागरमल जैन), बोध कथा 'अतीत का मोह' (गणेश ललवानी), 'आदि प्रभु आदिनाथ का प्रथम पारणक दिवस अक्षय तृतीया [२]' (गजसिंह राठौड़)।

जैन जगत ॥ अप्रैल १९८०

संपादकीय के अतिरिक्त इस अंक में है 'हम महावीर को समझें' (युवाचार्य महाप्राज्ञ), 'भगवान महावीर का आचार धर्म' (मुनि समदर्शी 'प्रभाकर'), 'भगवान महावीर : जीवन और शिक्षाएँ' (डा० हुकमचन्द भारिल्ल), 'भगवान महावीर की प्रजातांत्रिक दृष्टि' (डा० निजामुद्दीन), 'भगवान महावीर : आत्मोदय से लोकोदय तक' (एलाचार्य विद्यामुनि)।

जैन जर्नल || अप्रैल १६८०

इस अंक में है 'Winning ! The Jain Art of Self Mastery' (Lyssa Miller), 'Perspectives on Human Communication' (Richard Kleifgen), 'Yoga-Triplet' (Suzuko Ohira), 'Satrunjaya in Heart' (Clare Rosenfield), 'The Woman and Tree Motif Salabhanjika-Dalamalika in Prakrit and Sanskrit Texts with Special Reference to Silpsastras including notes on Dohada and related Jaina Texts' (Gustav Roth) ।

तीर्थंकर || अप्रैल १६८०

संपादकीय के अतिरिक्त इस अंक में है 'उपगूहन' (कन्हैयालाल सरावगी), 'हम हैं कैसे पागल' (मुनि किशनलाल), 'दर्शन बनाम प्रदर्शन' (आचार्य विद्यासागर), बोधकथा 'शिवाजी और शिला मेढक' (नेमीचन्द पाटोदिया), 'महावीर शत-प्रतिशत वर्तमान [२]' (डा० नेमीचन्द जैन), 'अन्तिम पृष्ठ : खत के रूप में चिन्तन' (गणेश ललवानी) ।

श्रमण || अप्रैल १६८०

इस अंक में है 'अध्यात्मवाद बनाम भौतिकवाद' (डा० सागरमल जैन), 'ईश्वर और आत्मा : जैन दृष्टि' (रंजन सूरिदेव), 'जैन तीर्थंकरों का जन्म क्षत्रियकुल में ही क्यों ?' (गणेश प्रसाद जैन) ।

श्रमणोपासक || अप्रैल १६८०

आचार्य श्री नानालाल जी के प्रवचनों के अतिरिक्त इस अंक में है— 'जैन, बौद्ध और गीता के दर्शन में समत्वयोग [१]' (डा० सागरमल जैन), 'समता-प्राप्ति के उपाय' (सज्जन सिंह मेहता) ।

Vol. IV No. 1 : Titthayara : May 1980
Registered with the Registrar of Newspapers for India
under No. R. N. 30181/77

Hewlett's Mixture
for
Indigestion

DADHA & COMPANY

and

C. J. HEWLETT & SON (India) PVT. LTD.

22 STRAND ROAD

CALCUTTA-700001